

जैन आगमों और उपनिषदों की आचार मीमांसा

—डॉ. सोहन राज तातेड़'
—डॉ. राकेशमणि त्रिपाठी"

सांसारिक प्राणियों में मानव की विवेक सम्पन्नता सर्वविदित है। ज्ञान-सम्पन्न होते हुये भी मानव आसक्ति के वशीभूत होकर आस्रव के माध्यम से कर्म-पुद्गलों का संचय कर इस संसार-सागर में अन्तहीन यात्रा का पथिक बना हुआ है। मानव की यह संसार-यात्रा कैसे समाप्त हो, इसके लिये शाश्वतिक कल्याण का मार्ग शास्त्रों में उपदिष्ट है। आत्मकल्याण या आत्म-साक्षात्कार को ही शास्त्रों ने जीवन का परमलक्ष्य बताया है। धन-धान्य इत्यादि भौतिक वस्तुएं नश्वर हैं। इनसे मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। कठोपनिषद् में कहा गया है कि धन से मनुष्य को कभी तृप्त नहीं किया जा सकता। लोक में धन की प्राप्ति किसी को भी तृप्त करने वाली नहीं देखी गयी।¹ आत्मकल्याण या आत्मसाक्षात्कार ही श्रेय है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को असाधारण कारण माना गया है। यद्यपि ये तीनों मिलकर आत्मोन्नायक होते हैं, तथापि उनमें चारित्र की महत्ता सर्वोपरि है। चारित्र की पृष्ठभूमि आचार ही है। इसीलिये कहा गया है कि 'यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्' क्रियावान् अर्थात् आचारवान् पुरुष ही विद्वान् होता है। जैन परम्परा में आचार की अभिव्यंजना जहां आगमों में हुयी है, वहीं वैदिक परम्परा में उपनिषदों में बताया गया है कि जितना दृश्य पदार्थ है, वह सभी अनित्य, अपूर्ण एवं दुःखारूप है। इन पदार्थों में सुखा की इच्छा तथा कल्पना भ्रममात्र है। ये सारे पदार्थ केवल जीवन यापन में सहायक हैं।² ये हमारे साधनमात्र हैं, साध्य नहीं। इसलिये इनके प्रति मूच्छा का त्याग आवश्यक है। सांसारिकविषयों में ममत्वबुद्धि जब तक रहेगी, दुःखा की आत्यन्तिक निवृत्ति खापुष्पायित ही रहेगी। जब तक बुद्धि मोहाच्छन्न है, तब तक अविद्या से मुक्ति नहीं मिल सकती। ईशावास्योपनिषद् में कहा है—'जो मनुष्य भोगों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के साधनरूप अविद्या का-विविध प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मों के फलस्वरूप अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों और भोगों को ही प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य जन्म के चरम और परम लक्ष्य को न प्राप्त कर निरन्तर जन्म-मृत्युरूप संसार के प्रवाह में पड़े हुए

विविध तापों से संतप्त होते रहते हैं। दूसरे जो मनुष्य न तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्त्तापन के अभिमान से रहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-वैराग्यादि ज्ञान के प्राथमिक साधनों का ही सेवन करते हैं, परन्तु केवल शास्त्रों को पढ़कर अपने में विद्या का-ज्ञान का मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे मिथ्याज्ञानी मनुष्य अपने को ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्त्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुये कर्त्तव्यकर्मों का त्याग कर देते हैं और इन्द्रियों के वश में होकर शास्त्रविधि से विपरीत मनमाना आचरण करने लगते हैं, ऐसे मनुष्य पशु-पक्षी, शूकर-कूकर आदि नीच योनियों को प्राप्त होते हैं।³ ज्ञान से ही अज्ञान दूर होता है। शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान और तदनुकूल आचरण ही श्रेष्ठ मार्ग हैं, जो मानव को अपने गन्तव्य तक पहुंचा सकता है।

ज्ञान की उपादेयता और अज्ञान की हेयता

आगम और उपनिषद् सत्छास्त्र हैं। दोनों अज्ञानान्धकार को दूर कर ज्ञानरूपी प्रकाश से लोक को प्रकाशित कर रहे हैं। दोनों शास्त्रों का बोध ही सम्यक् बोध है। एक में यदि अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है तो दूसरे में ज्ञान पर। आगमों में यहां तक कह दिया गया है कि 'जस्स णत्थिइमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया'⁴ अर्थात् जिसे अहिंसा धर्म का ज्ञान नहीं है, उसे अन्य तत्त्वों का ज्ञान कहां से होगा? अहिंसा जीवन है और हिंसा मृत्यु। जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर हैं। आगमों में जन्म और मृत्यु दोनों से ऊपर उठने की बात कही गयी है। 'न जीने की आकांक्षा करो और न मरने की इच्छा करो। जीवन और मरण दोनों में आसक्त मत बनो।'⁵ जन्म-मृत्यु के प्रवाह को तैरने वाला मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है।⁶

जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं में मुक्ति सबको वांछित है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। अनादिकाल से जीवन मरण के चक्र में घूमता हुआ यह जीव मुक्त होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाए, इसी के लिये जैन और वैदिक परम्परा का उपक्रम हुआ है। उद्देश्य की समानता होने पर भी उद्देश्य पूर्ति के साधनों में दोनों जगह भेद देखा जाता है। जैन परम्परा में जहां सम्यक् दर्शन ज्ञान और चारित्र को द्रंडचक्र चीवर न्याय से मुक्ति का साधन माना गया है वहीं उपनिषदों में केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना गया है। ज्ञान प्रकाश है और जगत् प्रकाश्य है। इसकी वास्तविकता को प्रकाशित करने के लिये तथा आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिये प्रकाश स्वरूप ज्ञान की ही आवश्यकता है। अन्धेरे को प्रकाश से ही दूर किया जाता

है। इसलिये अज्ञान रूपी बन्धन से मुक्त होने के लिये ज्ञानरूपी प्रकाश जिसे अखाण्ड बोध कहा जाता है उसी की उपादेयता औपनिषद् परम्परा में मान्य है। कहा भी गया है कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। ज्ञान से जीव के स्वरूप, संरक्षणोपाय और फल का बोध होता है। गीता में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु इस जगत् में नहीं है। ज्ञानरूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।^७

बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय की कामना

उपनिषदों और आगमों में मानवीय आचरण को नियन्त्रित करने के लिये दिशा निर्देश दिये गये हैं। यह निर्देश किसी एक व्यक्ति या किसी एक जाति के लिये नहीं अपितु समस्त प्राणिमात्र के लिये आचरणीय हैं। इसमें बहुजन सुखाय और बहुजन हिताय की कामना की गयी है—'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमयेति।^८ अर्थात् मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। यह मानव की अनादिकालिक शाश्वतिक समीक्षा है। वैचारिक दृष्टि से यह बात निर्विवाद है कि मनुष्य समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानवान् एवं चिन्तक है। उसे अपने स्वरूप एवं लक्ष्य दोनों की विधिवत् जानकारी है। प्रमादवश अज्ञान या मिथ्यात्व का आलम्बन कर मनुष्य इस भवचक्र में भटक रहा है। सौभाग्य से उसकी दृष्टि जब मिथ्यात्व पर मुखा होती है, तब वह अपने लक्ष्य की ओर उन्मुखा होता है और उसकी यह भावना बलवती हो जाती है तथा वह श्रुतिवचनों का अनुसरण कर उसके लिये विहित आचरण का अनुष्ठान करता है।

सामाजिक संदर्भों में आचार का महत्त्व

किसी भी आचार दर्शन का मानवजीवन के सन्दर्भ में क्या मूल्य हो सकता है, यह इस पर निर्भर है कि वह मानवजीवन एवं मानवसमाज की समस्याओं का समाधान करने में कहां तक समर्थ है और मानवजीवन तथा मानवसमाज के लिये उसका क्या और कितना सक्रिय योगदान है। जैन और उपनिषद् आचारदर्शन का मूल्यांकन करने के लिये यह विचार करना होगा कि वह वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिये कौन से सूत्र प्रस्तुत करता है और वे सूत्र समस्याओं के समाधान एवं जीवन की प्रगति में कितने सक्षम हैं, सामाजिक जीवन पर उनका क्या प्रभाव रहा है और उसने युग की सामाजिक समस्याओं का समाधान किस रूप में प्रस्तुत किया है?

उपर्युक्त तथ्यों के सम्बन्ध में उपनिषद् और आगमों में साम्य तथा वैषम्य दोनों देखाने को मिलता है। उपनिषद् परा विद्या है। परा विद्या वही होती है जो आत्मसाक्षात्कार के द्वारा जीव को अपने लक्ष्य तक पहुंचा देती है। जीव का लक्ष्य मोक्ष है। इसलिये उपनिषद् को मोक्षविद्या भी कहते हैं। यह लोकवाद, कर्मवाद, और क्रियावाद आदि भौतिकवादों से ऊपर उठकर केवल आत्मवाद की व्याख्या करती है। लोकवाद आदि प्रकृति से सम्बन्धित जड़वाद की व्याख्या करते हैं। उपनिषद् इन प्राकृतिक प्रपञ्चों को छोड़कर ज्ञानवाद को व्याख्यायित करती है।

वैयक्तिक दृष्टि से उपनिषद् व्यक्ति के चरम विकास का प्रतिपादन करने के साथ सामाजिक दृष्टिकोण से सर्वभूत समभाव का उपदेश देती है। इसे ईशावस्योपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है—इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है वह ईश्वर (आत्मा) से व्याप्त है, इसलिये प्राणिमात्र में आत्मदर्शन करना चाहिये। ऐसी बुद्धि होने पर पारस्परिक राग-द्वेष एवं घृणा का भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता और सामाजिक व्यवस्था विश्रुंखालित नहीं हो सकती।⁶ गीता जो उपनिषदों का सारभूत ग्रन्थ है उसमें भी समदर्शन का महत्व प्रतिपादित है—जो मानव अपने समान सब जगह सभी प्राणियों को देखता है, सुखा अथवा दुःखा को भी सबमें सम देखता है, वह समदर्शी होता है।¹⁰ समदर्शी व्यक्ति कुत्सित कर्म से सर्वथा विरत हो जाता है। उसका यह समदर्शन सामाजिक व्यवस्था को मर्यादित रखने में समर्थ होता है। आत्मवत् सर्वभूतेषु की पवित्र भावना से ओतप्रोत, सम्यग्दृष्टि आदि गुणों से सम्पन्न समदर्शी जीव हिंसा करता ही नहीं, उसके हृदय में स्वाभाविक रूप से अहिंसानिष्ठा होती है। वह सर्वत्र आत्मदर्शन ही करता है। वह न तो मृत्यु को देखता है, न रोग को और न दुःखात्वं को ही। वह सबको आत्मरूप ही देखता है। जब जीव का अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब निश्चल स्मृति होती है तथा स्मृति की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है। ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाने पर जीव अज्ञानान्धकार को पार कर जाता है।¹¹ इस प्रकार उपनिषद् आचार मीमांसा में एकत्वदर्शन, सर्वभूतहितकामना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन, राग-द्वेष त्याग, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, त्याग, शास्त्रप्रतिपादित कर्मों का आचरण, सर्वत्र आत्मदर्शन करना, पितृ-परितोष, गुरुजनों का सम्मान, नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान, इन्द्रिय-संयम के साथ ही साथ जीवन के साधारण से साधारण क्रिया कलापों का भी वर्णन है। यथा—प्रातःकाल कब उठा जाय, उठने के बाद सर्वप्रथम क्या किया जाय—इसके लिये शौच, दन्तधावन, स्नान, भोजन,

शयन आदि सभी की विधि बतायी गयी है। अतः इसके अनुसार जीवन धारण करना ही श्रेय पथ का अवलम्बन है।

आगमों में आचारमीमांसा को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। वह धर्मदर्शन का प्राणभूत है। अन्य धर्मों में भी आचार को कम महत्व नहीं दिया गया है, किन्तु सभी धर्मों में उसे केन्द्रीय स्थान नहीं प्राप्त है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय अपना स्रोत उपनिषदों में खोजते हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा तथा वेदान्त सभी दर्शनों के मुख्य विचार उपनिषदों में बिखारे हुये हैं। किन्तु सभी धर्म-दर्शनों की वैचारिक पद्धति, ज्ञानमीमांसा और आचार मीमांसा पृथक-पृथक् है। वैचारिक विभिन्नता के होते हुए भी वेदप्रामाण्य में सभी एक मत हैं। वैदिक दर्शनों में सांख्य दर्शन योगदर्शन का ही तत्त्वदर्शन पक्ष है। न्याय मुख्यतः प्रमाण शास्त्र है तथा वैशेषिक पदार्थ शास्त्र, पूर्व मीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य धर्म अवश्य है, किन्तु उस धर्म का भी केन्द्र आचार न होकर कर्म-काण्ड है। पूरी श्रमण परम्परा कर्मकाण्ड के विरुद्ध नैतिक स्वर को प्रमुखाता देती है। वैदिक कर्मकाण्ड के तीन प्रमुखा स्तम्भ हैं-यज्ञ, देवता तथा स्वर्ग। जैन आचार परम्परा के प्रतिपादक आचारांग जैसे प्राचीन आगम में इन तीनों का ही उल्लेख नहीं है। इनके स्थान पर आगमों में अहिंसा, संयम और तप की चर्चा है।^{१२} मीमांसा दर्शन का धर्म अपौरुषेय है। उसका आधार वेद है। वेद प्रतिपाद्य धर्म का ज्ञान केवल वेद द्वारा ही सम्भव है, प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण द्वारा नहीं। जैन आचार मीमांसा सर्वथा पुरुष प्रतिपादित है। आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित आगम उसका स्रोत है अवश्य, किन्तु प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण के द्वारा भी जैन आचार मीमांसा के तत्व गम्य ही माने गये हैं। भगवान् महावीर जैसे तीर्थंकर सत्य का साक्षात्कार स्वयं करते हैं, शास्त्र या गुरुवचनों द्वारा नहीं। जैन धर्म में मानवीयता और नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है। जैन धर्म का यह प्रभाव उपनिषदों पर भी दिखायी देता है- 'गृह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।' आचार की परिपूर्णता को प्राप्त मनुष्य में भगवत्ता की स्थापना जैन आचार-मीमांसा का एक विशिष्ट योगदान है, जिससे स्वावलम्बन का एक महत्वपूर्ण स्वर मुखारित होता है।

उपनिषद् सिद्धान्तों को आधार मानकर चलने वाले सम्प्रदायों में वेदान्त प्रमुखा है। वेदान्त का प्रमुखा सिद्धान्त है आत्मा और परमात्मा का अद्वैत। आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार का प्रमुखा साधन वेदान्त में ज्ञान है, जबकि जैन दर्शन में आत्मा के परमात्म पद को प्राप्त करने का

प्रमुखा साधन चारित्र है।^{१३} जैन दर्शन में आत्मा ही परमात्मा नहीं है, बल्कि आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है। जैन दर्शन में आचार को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। जैन गुणस्थानों का विकासक्रम चारित्र का विकासक्रम है, ज्ञान का नहीं। यथाख्यात-चारित्र की प्राप्ति पर ज्ञान परिपूर्णता को प्राप्त हो जाता है, किन्तु उसका क्रमिक विकास अनिवार्य नहीं है। गुणस्थानों की यात्रा प्रमाद से अप्रमाद और कणाय से क्षीणकणाय की यात्रा है। इस प्रकार यदि समस्त भारतीय चिन्तन परम्परा में योग को ध्यानशास्त्र, न्याय को प्रमाण शास्त्र, पूर्वमीमांसा को कर्मकाण्डशास्त्र तथा वेदान्त को ज्ञानकाण्डशास्त्र माना जाये तो जैन दर्शन को सरलता से आचार-शास्त्र कहा जा सकता है। जैन आचारधर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। आत्मज्ञ अर्हतों ने लोक को जानकर इसका प्रतिपादन किया है।^{१४} दशवैकालिक में कहा है-भिक्षु शरीर को त्याग दे किन्तु धर्मशासन को न छोड़े।^{१५}

आगमों में मानव जीवन के माहात्म्य का बहुत वर्णन मिलता है। सूत्रकृतांग में लिखा है कि इस मानवलोक में धर्म का आचरण करके जीव संसार-सागर से पार हो जाते हैं।^{१६} मानव को छोड़कर अन्य गति वाले जीव सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उनमें ऐसी योग्यता नहीं है।^{१७} जैनाचार शास्त्र में वैयक्तिक जीवन को कम महत्व नहीं दिया गया है। उपनिषद् दर्शन में जहां सर्वत्र आत्मदर्शन की बात कही गयी है, वहीं जैन शास्त्रों में पृथक्-पृथक् मानवों में आत्मदर्शन की बात करके मानव स्वतन्त्रता का उद्घोष किया गया है। आचार शास्त्र में जिन मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है वे शाश्वत हैं। प्रत्येक युग में उनका मूल्य यथावत् रहा है। आचार मीमांसा के सन्दर्भ में पंच अणुव्रतों का आधुनिक युग में सर्वाधिक महत्व है। आर्थिक दृष्टि से यदि इनका मूल्यांकन किया जाय तो अहिंसा के अन्तर्गत, शोषण का त्याग, सत्य के अन्तर्गत व्यवसाय में ईमानदारी, अस्तेय के अन्तर्गत काले धन का परित्याग, ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत सीमित परिवार तथा अपरिग्रह के अन्तर्गत अत्यन्त आवश्यक सामग्री को छोड़कर शेष सामग्री के संग्रह का समाज कल्याण के लिए त्याग यह अर्थ किया जाना चाहिए।

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान है और आज का युग प्रवृत्ति प्रधान। सांसारिक विषय भोगों से बचना ही निवृत्ति है। यह जीवन कुश की नोक पर टिके हुए अस्थिर एवं वायु से प्रकम्पित होकर गिरने वाले जलकण की भांति क्षणभंगुर है।^{१८} भगवान् महावीर ने जब यह अमृत वाणी सुनायी कि सबको अपना जीवन प्रिय है अतः न किसी को मारें, न किसी पर शासन करें, न किसी को

दास बनाएं, न किसी को परिताप दें और न किसी का प्राण वियोजन करें,¹⁸ उस युग में इस वाणी का जो महत्व था आज उससे कहीं अधिक महत्व है, क्योंकि उस समय हिंसा के साधन उतने व्यापक नहीं थे, किन्तु आज के युग में परमाणविक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग मानव-संस्कृति के सारे विकास को पलक झपकते ही नष्ट कर सकता है। भगवान् महावीर इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि अपरिग्रह के बिना अहिंसा सम्भव नहीं है। इसीलिए उन्होंने सब कुछ त्याग कर अहिंसा का पालन किया। शोषण मुक्त समाज के निर्माण के लिए अपरिग्रह सिद्धान्त का आचरण आवश्यक है।

सामाजिक सन्दर्भों में वर्णव्यवस्था का महत्व

समाज व्यवस्था के सन्दर्भ में औपनिषद मान्यता यह है कि वर्णव्यवस्था की परिपुष्ट आधारशिला पर ही समाज मर्यादित और सुव्यवस्थित रह सकता है। उपनिषदों में ब्रह्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति दिखलाई गयी है। बृहदारण्यक का कथन है कि 'आरम्भ में एक ब्रह्म ही था। अकेले होने के कारण वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयता से क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की। इसी से क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है। किन्तु ब्राह्मण को क्षत्रिय की योनि बताया गया है, अतः जो क्षत्रिय ब्राह्मण की हिंसा करता है वह अपनी योनि का ही विनाश करता है।²⁰ क्षत्रिय और ब्राह्मण दो वर्णों की उत्पत्ति के पश्चात् भी समाज संरचना सुव्यवस्थित नहीं हो सकी तो वैश्य और शूद्र वर्ण की रचना हुयी। इस सम्बन्ध में कहा गया है—'वह ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने वैश्य जाति की रचना की। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण इसी वर्ण के हैं।²¹ इनकी रचना के बाद भी सामाजिक व्यवस्था सन्तुलित न हो सकी तो शूद्र वर्ण की रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है क्योंकि वह सबका पोषण करती है।²² ये चारों वर्ण धर्म से अनुशासित होते हैं। इसलिये धर्म ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है—'धर्मात्परं नास्ति' अर्थात् धर्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।²³ लौकिक पुरुषों द्वारा किया जाने वाला व्यवहार रूप धर्म है, वह निश्चय ही सत्य है। सत्य शास्त्रानुकूल अर्थ का नाम है। शास्त्रानुकूल अर्थ ही अनुष्ठान किये जाने पर धर्म कहलाता है। ज्ञान और अनुष्ठानरूप धर्म शास्त्रज्ञ और अशास्त्रज्ञ सभी का नियमन करता है। औपनिषदिक वर्णव्यवस्था किसी को ऊंच-नीच बताने वाली नहीं है, वह तो समाज को नियन्त्रित और सन्मार्ग पर चलाने वाली है। समाज की स्थिरता और गतिमत्ता के लिये ज्ञान, सुरक्षा पोषण और सेवा ये चार बहुत आवश्यक तत्व हैं। उपनिषदों में ब्राह्मण का सम्बन्ध ज्ञान से, क्षत्रिय का

सम्बन्ध रक्षा से, वैश्य का सम्बन्ध पोषण से और सेवा का सम्बन्ध शूद्र से दिखाया गया है।^{२४} प्राचीनकाल में वर्णों के आधार पर रचित सामाजिक व्यवस्था में कोई भेदभाव नहीं था। आज यह वर्ण व्यवस्था जाति प्रथा में बदल गयी है। इसकी सबसे बड़ी कमी ऊंच-नीच का भेदभाव है। सिद्धान्ततः चारों वर्ण एक ही समाज-पुरुष के चार अंग हैं, इसलिये चारों का समान महत्व है।

बाह्याचार के स्थान पर आन्तरिक आचार शुद्धि

आगमों में बाह्याचार को महत्व नहीं दिया गया। श्रमण-परम्परा ने न केवल वेदों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ-याग की परम्परा का विरोध किया, वरन्, जैन परम्परा की देह-दण्डन की तपस्यात्मक प्रणाली का भी विरोध किया। भगवान् महावीर ने दोनों ही पक्षों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और यह बताया कि नैतिकता का सम्बन्ध किसी वर्ग विशेष से नहीं अपितु सम्पूर्ण मानव जाति से है। आचरण के बाह्य पक्ष के रूप में क्रिया का जो स्थान है, उससे भी अधिक स्थान आचरण के आन्तरिक प्रेरक का है। कार्य किस भावना से किया जा रहा है, यह बहुत महत्व की बात है। यदि भाव दूषित है तो कार्य को नैतिक नहीं माना जा सकता। द्रव्य और भाव दोनों रूप से आचरण का सम्यक् होना आवश्यक है। श्रमण परम्परा में मानव-मात्र की समानता का उद्घोषण है। आगमों में उच्चता या नीचता जन्म के कारण नहीं बल्कि कर्म के आधार पर निर्धारित हुयी। जैन विचारधारा ने जन्मना जातिवाद का विरोध किया। एक ओर हरकेशी बल जैसे निम्न कुलोत्पन्न को तो दूसरी ओर गौतम जैसे ब्राह्मण कुलोत्पन्न साधकों को अपने साधना मार्ग में समानरूप से दीक्षित किया। केवल जातिगत भेदभाव ही नहीं बल्कि आर्थिक असमानता भी साधना के लिए कोई महत्व नहीं रखती। इसलिये समस्त इन्द्रियों को सुसमाहित करके आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि अरक्षित आत्मा जन्म-मरण परम्परा को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।^{२५}

उभय संस्कृतियों का आश्रमव्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण

वैदिक धर्म में सामाजिक जीवन-व्यवस्था के लिये विहित चार आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताया गया, किन्तु जैन परम्परा में संन्यासाश्रम को आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। त्याग और संयम के आचरण द्वारा कर्मबन्धन और जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होने के लिये सर्वोत्तम मुनिपर्याय है। गृहस्थाश्रम सामाजिक दृष्टि से भले ही महत्वपूर्ण है,

किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह प्रायः बन्धनकारक है। कर्मबन्धन को पूर्णतया काटने में तथा आत्मा की वीतरागता को प्राप्त कराने में मुनिपर्याय ही सक्षम है। मुनिपर्याय में हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और ममत्वपूर्वक संग्रह, परिग्रह आदि पापजनक कार्यों का सर्वथा त्याग किया जाता है। आरम्भ, परिग्रहादि का इसमें कोई स्थान नहीं है। मानव जीवन में प्राप्त करने योग्य चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए चार आश्रमों का विधान है। ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्जन के लिए है। इसमें विद्यार्थी गुरु सान्निध्य में रहकर ज्ञान प्राप्त करता था। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता था। धर्म की साधना वानप्रस्थाश्रम में और मोक्ष की साधना संन्यास आश्रम में की जाती थी। छान्दोग्य उपनिषद् में तीन आश्रमों का विवेचन उपलब्ध है। संन्यास और वानप्रस्थ सामान्यतया एक ही माने गए थे, लेकिन परवर्ती साहित्य में चारों आश्रमों का वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा में आश्रम सिद्धान्त जीवन को चार भागों में विभाजित कर उनमें से प्रत्येक भाग में एक-एक आश्रम के अनुसार जीवन व्यतीत करने का निर्देश देता है। प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य, दूसरे में गृहस्थ, तीसरे में वानप्रस्थ और चौथे में संन्यास आश्रम ग्रहण करने का विधान है। किन्तु इसमें कोई बाध्यता नहीं थी। आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास में से किसी भी आश्रम को ग्रहण किया जा सकता था। जाबालोपनिषद् के अनुसार जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाय तभी प्रब्रज्या ग्रहण कर लेनी चाहिए²⁶ आचार्य शंकर ने भी इस मत का समर्थन किया है। उनका जीवन साक्षात् इसका उदाहरण था।

जैन परम्परा और आश्रम सिद्धान्त

जैनागमों में आयु के आधार पर आश्रमों के विभाजन का सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता। वैदिक विचारधारा की दृष्टि से तुलनात्मक विचार करने पर ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में संन्यास-आश्रम ही सर्वोत्तम है और व्यक्ति को जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाये तभी इसे ग्रहण कर लेना चाहिए। तेजस्वीपुरुषों में उत्कर्ष के लिए अवस्था कारण नहीं होती। किसी भी अवस्था में संन्यास आश्रम को ग्रहण किया जा सकता है। उपनिषदों में आचार्य के सान्निध्य में ब्रह्मचर्यवास पूर्वक ज्ञानार्जन की जिस परम्परा का उल्लेख है वह आगमों में नहीं है किन्तु जीवन के प्रारम्भिक काल में शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख आगमों में भी वर्णित है जो कि उपनिषद् परम्परा के समान ही है। लौकिक जीवन की शिक्षा ग्रहण करने के लिए सामान्यतया ब्राह्मण शिक्षकों के पास ही विद्यार्थी जाते थे, किन्तु गुरुकुलवास की परम्परा

का उल्लेख आगमों में नहीं दिखायी देता। श्रमणधर्म स्वीकार करने के पश्चात् आचार्य के सान्निध्य में साधु पंचमहाव्रतों का पालन करते हुए साधनारत रहते हैं।

आश्रम व्यवस्था जिस प्रकार उपनिषद् परम्परा में मान्य थी वैसी जैन आगमों में स्वीकृत नहीं दिखायी देती। परवर्ती जैनाचार्यों ने जैनमान्यताओं के अनुरूप बनाकर इसे स्वीकार किया। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में यह स्वीकार किया है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चारों आश्रम जैन धर्म के अनुसार उत्तरोत्तर शुद्धि के परिचायक हैं।^{२७} ब्रह्मचर्यकाल को लौकिक जीवन की शिक्षा काल के रूप में तथा गृहस्थाश्रम को गृहस्थधर्म के रूप में एवं वानप्रस्थ आश्रम को ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर उद्दिष्टविरत या श्रमणभूत प्रतिमा की साधना के रूप में अथवा सामायिक-चारित्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। संन्यास आश्रम तो श्रमण जीवन के रूप में स्वीकृत है ही। इस प्रकार चारों आश्रम जैन परम्परा में स्वीकृत हैं।^{२८} सामान्यतः आश्रम परम्परा का उद्देश्य यही था कि मनुष्य नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति करता हुआ अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर सके।

संस्कार सम्बन्धी दृष्टिकोण

औपनिषद् आचार परम्परा में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है। मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए संस्कारों को अत्यधिक आवश्यक माना गया है। वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है कि जन्म से सभी मनुष्य संस्कारहीन होते हैं। संस्कारों के कारण ही उनकी द्विजादि संज्ञा होती है।^{२९} जैन संस्कृति में धार्मिक दृष्टिकोण से संस्कारों का कोई महत्व स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि संस्कारों का सम्बन्ध मुख्यतया शरीर से है और जैन संस्कृति शारीरिक संस्कार की अपेक्षा आन्तरिक संस्कार को अधिक महत्व देती है। आगमों में संस्कारों का सामाजिक महत्व वर्णित है, धार्मिक नहीं।

धर्मशास्त्रों में संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु सोलह संस्कारों का महत्व जीवन में अत्यधिक है। जैन और वैदिक दोनों में प्रथम संस्कार गर्भाधान माना गया है। जैन ग्रन्थों में द्वितीय संस्कार जातकर्म है, जो पुत्रोत्पत्ति के प्रथम दिन किया जाता था। इसके अतिरिक्त जागरिका, चन्द्रसूर्यदर्शनिका, शुचिकर्म, इत्यादि किये जाते थे। बारहवें दिन पिता सुन्दरवस्त्र एवं अलंकरणों से सुसज्जित होकर अपने सगे सम्बन्धियों और कुटुम्बियों को घर पर निमन्त्रित कर भोजनपान द्वारा सन्तुष्ट करके

पुत्र का नामकरण संस्कार करता था।³⁰ कर्ण वेध, केशकर्तन, कलाग्रहण संस्कारों का भी वर्णन जैनागमों में यत्र-तत्र मिलता है।³¹

तुलनात्मक दृष्टि से देखाने पर वैदिक ग्रन्थों में संस्कारों का जितनी विशदता और प्रमुखाता से वर्णन प्राप्त होता है उतना आगमों में नहीं। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि शास्त्रकारों ने शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर दिया था। शरीर का यह स्वरूप है कि जैसा वह भीतर में रक्त आदि धातुमय और अपवित्र है, वैसा ही वह बाहर में है। जैसा वह बाहर में रक्त आदि धातुमय और अपवित्र है, वैसा ही वह भीतर में है।³² इसलिए आगमों में संस्कारों का क्रम बढ़ वर्णन नहीं है।

अहिंसा सम्बन्धी आचार

उपनिषदों और आगमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन समानरूप से निर्दिष्ट है। आगमों में महाव्रत और अणुव्रत के रूप में इनका विभाजन कर श्रमणों और श्रावकों के लिये इनका पृथक-पृथक् विधान किया गया है। दशवैकालिक में आचार के अठारह स्थानों का वर्णन है। जो अज्ञ साधु इन अठारह स्थानों में से किसी एक का भी विराधन करता है, वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है। अठारह स्थान ये हैं—छह व्रत पांच महाव्रत और छठा रात्रिभोजनविरमण व्रत), छह काय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस, इन षड् जीवनिकायों सम्बन्धी संयम करना), अकल्प्य अग्राह्य भक्त-पानादि पदार्थों का परित्याग करना), गृहस्थ के वर्तन में आहार-पानी ग्रहण-सेवन का त्याग करना, पर्यक का उपयोग न करना, निषाद्या गृहस्थ के द्वार या आसनादि पर न बैठना), स्नान तथा शरीर की शोभा का त्याग।³³ आचारस्थान की विराधना से मुनिधर्म नष्ट होता है। इसका कारण है कि जब कोई व्यक्ति किसी मौलिक आचार-नियम का उल्लंघन करता है, तब वह अज्ञान और प्रमाद से युक्त हो जाता है। अज्ञान और प्रमाद से युक्त होने से वह स्वतः पतित और भ्रष्ट हो जाता है। अहिंसा जैन धर्म की पहिचान है। अहिंसा धर्म का जितनी विशिष्टता के साथ जैन धर्म में आचरण किया जाता है उतना अन्यत्र नहीं। भगवान् महावीर के उपदेश में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है।³⁴ अहिंसा, संयम और तप को उत्कृष्ट मंगल कहा गया है।³⁵

जैन दृष्टिकोण से मानव जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना माना गया है। मानव पूर्ण अहिंसक जीवन व्यतीत कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुखा एवं अनन्त शक्तिरूप निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।³⁶

यद्यपि संयम तथा तप अहिंसा के ही रूप हैं, किन्तु चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये संयम तथा तप की भी आवश्यकता बताने के लिए अहिंसा के साथ संयम तथा तप का निर्देश किया गया है।

' सलाहकार, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ राज.)

" व्याख्याता, संस्कृत, ब्राह्मी विद्यापीठ महाविद्यालय, लाडनूँ राज.)

संदर्भ सूची

१. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। कठोप. १/१/२७
२. कठोपनिषद् १/१/२५
३. अन्धः तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ ईशावास्योपनिषद् मन्त्र ६
४. आचारांग भाष्य - ४/१/८
५. जीवियं णाभिकंखोज्जा, मरणं णोवि पत्थए।
दुहतोवि ण सज्जेज्जा, जीविते मरणे तथा॥ आचारांगभाष्य ८/८/४
६. एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए विद्याहिए॥ आचारांगभाष्य ५/३/६१
७. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते र्जनः॥ भगवद्गीता ४/३८
८. बृहदारण्यकोपनिषद् १/३/२८
९. ईशावास्योपनिषद् - मन्त्र १
१०. गीता ६/२६
११. बृहदारण्यकोपनिषद् ७/२६/१
१२. क) जरुस णत्थि इमा णाई, अण्णा तरुस कओ सिया।
आचारांगभाष्य ४/१/८
खा) धम्मो मंगलमुक्कि , अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जरुस धम्मे सया मणो॥
दशवैकालिक सूत्र १/१
१३. चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम्।
सर्वार्थसिद्धि ६/१८
१४. एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिट्ठ लोयं खोयण्णोहिं पवेइए।
आचारांगभाष्य ४/१/२
१५. चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं। दसवेआलियं, चूलिका १/१७
१६. सूत्रकृतांग १/१५/१५
१७. सूत्रकृतांग १/१५/१६

१८. से पासति फ़ुसियमिव, कसग्गे पणुन्नं णिवतितं वातेरितं। एवं बालस्स जीवियं, मंदस्स अविजाणओ। आचारांगभाष्य ५/१/५
१९. आचारांगभाष्य ४/१/१
२०. बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/११
२१. स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्याविश्वेदेवा मरुत इति। बृहदा० १/४/१२
२२. स नैव व्यभवत्स शौद्र वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। बृहदारण्यक. १/४/१३
२३. बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१४
२४. बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१५
२५. अप्पा खालु सययं रक्खिायत्वो सत्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिआओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिआओ सत्वदुहाण मुटचइ।। दशवैकालिकसूत्र, द्वितीयचूलिका, १६
२६. जावालोपनिषद् ३/१
२७. आदिपुराण ३६/१५२
२८. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २ - डॉ. सागरमल जैन, पृष्ठ १८५
२९. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।
३०. ज्ञाताधर्मकथा १/२०
३१. जैन अंग शास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास, पृष्ठ २२४
३२. जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो। आचारांगभाष्य २/५/१२६
३३. दशवैकालिक ६/७
३४. दशवैकालिक ६/८
३५. दशवैकालिक १/१
३६. सूत्रकृतांग १/११